

उपेक्षा के चक्रव्यूह में

भारतीय नारी :

युग-युग में और आज

महर्षि मनु ने कहा—“यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः” जहाँ स्त्रियों की प्रतिष्ठा है, वहाँ देवों का निवास है। स्त्रियों के विषय में यह सर्वोत्तम उक्ति है। इसी उक्ति के आधार पर बताया जाता है, भारतीय संस्कृति में नारी का स्थान बहुत ऊँचा है। किसी अपेक्षा विशेष से यह सत्य भी होगा, पर कुल मिलाकर देखें, तो क्या भारत में, विश्व में नारी पुरुष की अपेक्षा बहुत ही पिछड़ी दशा में रही है। समाज का नियन्ता पुरुष रहा है और उसने नारी को सदैव संकीर्ण सीमाओं में बांधा है। इसमें पुरुष का नारी के प्रति दौर्मनस्य था, ऐसा नहीं पर, स्वयं का व समाज का हित उसको इसी में लगा। यह एक प्रकार का दृष्टि-दोष था। नारी के व्यक्तिगत हितों को इसमें सर्वथा गौण कर दिया गया था। समाज-हित जो उसमें समझा गया था, वह भी उसका व्यक्तिगत स्वार्थ ही था। उसने सारे सामाजिक नियमन स्त्री पर डाले और स्वयं उनसे मुक्त रहा। इसके उदाहरण हैं—स्त्री एक ही पति करे; पुरुष चाहे तो सहस्रों पत्नियाँ भी कर सकता है—पति की चिंता पर स्त्री आत्मदाह करे, सती हो जाये, पुरुष स्त्री के पीछे ऐसा तो करेगा ही नहीं, पर, उसके पीछे विधुर भी नहीं रहेगा। उसके घर को फिर से कोई नवोद्गा सुशोभित करेगी। सदाचार समाज में आवश्यक है, पर घूँघट इसके लिए स्त्री लगायेगी पुरुष नहीं। ये नियमन ही पुरुष ने स्वयं पर किये होते, तो उसे अनुभव होता, ये कितने कठोर और कितने अव्यवहार्य हैं। उसने नारी की सीमाओं को इस प्रकार से सोचा ही नहीं कि ये ही सीमाएँ यदि मेरे लिए हों तो ?

—साष्टसन्त मुनिश्री

नगराज जी (डी० लिट०)

[प्रसिद्ध विद्वान्, विचारक, अन्तर्राष्ट्रीय

स्तर के जैन मनीषी]

नारी इनको व इस प्रकार के अन्य नियमों को शताब्दियों तक निभाती रही। आज भी वैसी ही अनेक रूढ़ियों से वह चिपटी बैठी है। वह स्वयं भी उन्हें छोड़ना नहीं चाहती। इसका कारण है, उसका चैतन्य मूर्च्छित हो चला है। उसे स्वत्व का भान भी नहीं हो पा रहा है। जिन शृंखलाओं से वह बांधी गई है और उनकी उपयोगिता जैसे उसे समझाई गई है, वह उसके अणु-अणु में रम गई है। उसने उसे ही अपना अजर-अमर स्वरूप मान लिया है।

शिक्षा के क्षेत्र में भी पुरुष ने स्त्री को अपने साथ नहीं रखा। पुरुष में विद्या का, बुद्धि का विकास होता चला। नारी जहाँ की तहाँ रही। योग्यता के अभाव में वह और उपेक्षित होती गई। वाणिज्य

को स्त्री क्या समझे, राजनीति को स्त्री क्या समझे, यह कहकर पुरुष ने उसको घर की चहार-दीवारी तक सीमित कर दिया। पति अपनी आय व सम्पत्ति भी पत्नी को नहीं बताता, यह कहकर कि उसके पेट में बात पचेगी नहीं। गृह, समाज, व्यापार आदि में स्त्रियों का परामर्श हास्यास्पद बना दिया गया। समाज में यह मान्यता बन गई, स्त्रियों के परामर्श पर चलने वाला परिवार; समाज या राज्य नष्ट ही हो जायेगा। पुरुष ने नहीं सोचा, नारी इतनी अयोग्य या अक्षम क्यों है तथा वह योग्य सक्षम कैसे बन सकती है? ऐसा होना प्रकृतिगत मानकर वह उससे वैसे ही बर्तता रहा। परिणाम हुआ, नारी अक्षम बनती गई और उसी आधार पर पुरुष उसकी अधिकाधिक उपेक्षा करता गया। उपेक्षा से अक्षमता की एक शृंखला बन गई। उपेक्षा से अक्षमता और अक्षमता से उपेक्षा इस चक्र-व्यूह में नारी शताब्दियों और सहस्राब्दियों तक फँसी रही।

आध्यात्मिक क्षेत्र में भी हेयता

इस प्रकार नारी सामाजिक जीवन में तो उपेक्षित थी ही, आध्यात्मिक जगत् में भी वह हेय बताई जाती रही। ऋषियों ने, महर्षियों ने, सन्तों ने, साधकों ने पुरुष के पतन का हेतु स्त्रियों को ही बताया। उसे कूट-कपट की खान कहा, पुरुष को नरक-कुण्ड में डाल देने वाली कहा। और न जाने क्या-क्या कहा? वस्तुस्थिति यह थी कि विकार—हेतु पुरुष के लिए स्त्री थी और स्त्री के लिए पुरुष था। पता नहीं, स्त्री ने ही पुरुष को कैसे डुबोया? अधिक यथार्थ तो यह रहा कि पुरुष ही नारी को पथ-भ्रष्ट करने में अगुआ रहे हैं। पुरुष स्त्रियों को बलात् उठाकर ले भागे, ये उदाहरण तो इतिहास के पृष्ठों पर व धर्म-ग्रन्थों में अनगिनत मिलेंगे, पर स्त्री पुरुषों पर बलात्कार करती प्रायः न देखी गई है, न सुनी गई है।

ऋषि-महर्षि और साधु-मुनि विरक्त वृत्ति में थे। अन्य पुरुषों को भी वे विरक्त देखना चाहते थे। उनकी निरंकुश काम-वृत्ति को सीमित करने के लिये उन्होंने स्त्री की गर्ह की, पर, समाज ने यही समझा, ज्ञानी पुरुषों ने कहा है अतः स्त्री ही ऐसी है, पुरुष ऐसा नहीं।

अध्यात्म की अन्य अनेक दिशाओं में भी नारी तर्जित ही रही। नारी होना भी पाप माना गया। किसी ने कहा—यह मोक्ष की अधिकारिणी नहीं है। किसी ने कहा—यह संन्यास और दीक्षा की अधिकारिणी नहीं है। अध्यात्म में और शिक्षा में स्त्री के पिछड़ेपन का कितना सबल उदाहरण है कि वैदिक, बौद्ध, जैन परम्परा के असीम वाङ्मय में एक भी ऐसा आधारभूत ग्रन्थ नहीं है, जो किसी विदुषी साधिका के द्वारा लिखा गया हो।

भारती का, या ऐसे कुछ एक अन्य नाम लेकर समस्त नारी समाज को शिक्षा के क्षेत्र में समुन्नत बताया जाता है। शताब्दियों और सहस्राब्दियों के इतिहास में दो-चार नामों का मिल जाना नारी समाज की शिक्षित दशा का मान-दण्ड नहीं बन जाता। उन नामों का उपयोग तो केवल इसी सन्दर्भ में संगत हो सकता है कि अविद्या के उस युग में भी नारी ऐसी हो सकती है, तो आज के विद्या-बहुल-युग में वह अशिक्षित व अपढ़ रहे, यह लज्जा की बात है।

बुद्ध व महावीर के युग में

नारी युग-युग के अंकन में इतनी पिछड़ती गई कि उसे पर्याप्त रूप से उठा लेना किसी एक ही युग-पुरुष के वश की बात नहीं रही। नारी के प्रति अनेक कुण्ठित लोक-धारणाएँ प्रचलित हो गई थीं। किसी भी क्षेत्र में उसे आगे लाने में सामाजिक विरोध से लोहा लेना पड़ता था। बुद्ध के सामने प्रश्न आया, संघ में पुरुषों की तरह स्त्रियों को भी दीक्षित किया जाये। बुद्ध इस पक्ष में नहीं थे। स्त्रियों को

भिक्षु-संघ में लेना उन्हें सामाजिक दृष्टि से व संघीय दृष्टि से उचित नहीं लगता था। बुद्ध की मौसी माँ प्रजापति गौतमी ने आग्रह किया। वह अनेक शाक्य स्त्रियों के साथ भिक्षुणी का वेश धारण कर बुद्ध के सम्मुख आ गई। निडरतापूर्वक उसने बुद्ध से कहा—“यह आपका कैसा धर्म-संघ है, जिसमें स्त्रियों को आत्म-साधना का अधिकार नहीं है।” बुद्ध के अग्रणी शिष्य आनन्द ने भी गौतमी की दीक्षा का आग्रह किया। बुद्ध ने कहा—“यह कैसा लगेगा की शाक्य कुल की स्त्रियाँ विभिन्न कुलों में भिक्षार्थ भ्रमण करेंगी?”

आनन्द—‘भन्ते ! जिस गौतमी ने मातृ-अभाव में आपका लालन-पालन किया, उसे आप संघ में प्रविष्ट होने की अनुज्ञा न दें, यह भी तो कैसा लगेगा ?’

बुद्ध—“आवुष आनन्द ! मैं तुम्हारे आग्रह पर गौतमी को उपसम्पदा (दीक्षा) की अनुज्ञा देता हूँ, पर साथ-साथ यह भी घोषणा करता हूँ कि मेरा धर्म-संघ मेरे पश्चात् जितने समय तक चलता, अब उससे आधे समय तक चलेगा। क्योंकि संघ में स्त्रियों का प्रवेश हो गया है।”

इस घटना-प्रसंग से पता चलता है, नारी विषयक हीन भावनाएँ पुरुष के मस्तिष्क में कहाँ तक घर किये हुए थीं ? युगपुरुष भी उसके अपवाद नहीं थे। बुद्ध ने इसी प्रसंग में इतना और जोड़ा, नव-दीक्षित भिक्षु चिरदीक्षित भिक्षु को नमस्कार करता है, पर, जो भिक्षुणी चिरदीक्षिता होगी, वह भी नवदीक्षित भिक्षु को ही नमस्कार करेगी। गौतमी ने दीक्षा-प्रसंग पर तो मूक भाव से बुद्ध की इस आज्ञा को शिरोधार्य किया, पर कुछ ही दिनों पश्चात् प्रश्न उठाया—“भन्ते ! ऐसा क्यों, कि चिरदीक्षिता भिक्षुणी नवदीक्षित भिक्षु को नमस्कार करे ? नवदीक्षित भिक्षु यदि चिरदीक्षिता भिक्षुणी को नमस्कार करे तो क्या हानि है ?”

“गौतमी ! इतर धर्म-संघों में भी ऐसा नहीं होता कि पुरुष स्त्री को अर्थात् भिक्षु-भिक्षुणी को नमस्कार करें। अपना धर्म-संघ तो उन सबसे श्रेष्ठ है, इसमें तो ऐसा हो ही कैसे सकता है ?”

गौतमी का यह प्रश्न अब तक ढाई हजार वर्षों के बाद भी निरुत्तर खड़ा है। स्त्री पुरुष की श्रेष्ठता को चुनौती नहीं दे सकती, न पुरुष ने ही इस विषय में अपना औचित्य बदला। बौद्ध और जैन दोनों धर्म-संघों में अब तक यही परम्परा चल रही है।

जैन परम्परा में सदा से ही स्त्री और पुरुष दोनों समान रूप से दीक्षित होते रहे हैं। महावीर के सामने प्रश्न आया—क्या भिक्षु की तरह भिक्षुणी भी आचार्य के गुरुतर पद पर आरूढ़ हो सकती है ? समाधान रहा, संघ में एक भी भिक्षु इस योग्य हो, तब तक भिक्षु ही आचार्य बनेगा, भिक्षुणी नहीं। योग्य भिक्षु के अभाव में भी वही भिक्षुणी आचार्य पद पर आरूढ़ हो सकती है, जिसकी दीक्षा-पर्याय कम से कम साठ वर्ष की हो चली हो, जबकि भिक्षु तरुण भी आचार्य पद पर आसीन हो सकता है। प्रस्तुत विधान भी यही बात व्यक्त करता है—श्रेष्ठता से, योग्यता से, क्षमता से नारी को बहुत न्यून समझा जाता रहा है। पर, कहा जा सकता है, महावीर और बुद्ध के युग में नारी जहाँ थी वहाँ से बहुत कुछ आगे बढ़ी है।

बुद्ध की पत्नी यशोदा अवगुंठन नहीं रखती थी। राजकुल की वृद्ध महिलाएँ उसे ऐसा करने के लिये विवश करतीं, तो वह कहती—ऐसा क्यों आवश्यक है, मेरी समझ में नहीं आता; अतः अवगुंठन नहीं रखूँगी। गौतमी और यशोदा सम्भवतः इतिहास की प्रथम महिलाएँ होंगी, जिन्होंने नारी जाति के पक्ष में प्रश्न खड़े किये !

लगता है, नारी के प्रति रहा हीनता और उपेक्षा का भाव गोस्वामी तुलसीदासजी के समय तक तो बना ही रहा। उन्होंने स्वयं जो नारी को तर्जना के योग्य कहा, इससे उस युग तक की सामाजिक धारणाएँ ही प्रतिबिम्बित होती हैं। तुलसीदासजी के पश्चात् भी बहुत समय तक भारतीय संस्कारों में वही धारणाएँ पनपती रहीं। लोक-धारणाएँ थीं—एक घर में दो कलमें नहीं चलती अर्थात् पत्नी का पढ़ना पति के लिये शुभ नहीं है। स्त्री के मानस में इतना भय भर दिया जाये, तो उसके पढ़ने का प्रश्न ही समाप्त हो जाता है। बिना शिक्षा के अन्य विकास स्वयं कुण्ठित रह ही जाते हैं।

नये युग में काराएँ कटीं

नया युग आया। विज्ञान ने उक्त प्रकार के अन्धविश्वासों को कोसों दूर ढकेल दिया। सामाजिक व राजनैतिक क्षेत्र में ज्यों ही समानता और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के विचार उभरे, नारी की बहुत सारी काराएँ एक साथ कटीं। शिक्षा, साहित्य, राजनीति और सार्वजनिक क्षेत्रों के द्वार प्रथम बार नारी के लिये खुले। युग-युग से सामाजिक घुटन में रही नारी मुक्त श्वास का वातावरण मिलते ही अप्रत्याशित रूप से आगे बढ़ गई। अब वह प्रधानमन्त्री के पद पर भी देखी जाती है और अन्य शीर्षस्थ पदों पर भी। सार्वजनिक क्षेत्र में भी वह पुरुष से पीछे नहीं है, उसने चन्द दिनों में यह प्रमाणित कर दिया कि अक्षमता और अयोग्यता परिस्थितिजन्य थीं, न कि नैसर्गिक।

स्वाधीनता के लिये नारी ने कोई विप्लव नहीं किया था। युग की करवट के साथ पुरुष का चिन्तन ही उदार और विकसित हुआ। उसने ही सोचा, समाज का एक अंग इस प्रकार प्रक्षाघात से पीड़ित रहे, यह किसी भी स्थिति में थेयस्कर नहीं है। वह नारी के साथ न्याय भी नहीं है। पुरुष की युगीन चेतना ने श्रमिकों को अवसर दिया, किसान को अवसर दिया, अछूत को अवसर दिया, इसी प्रकार नारी को भी अपने पैरों पर खड़ा होने का एवं अपनी सुषुप्त शक्तियों को विकसित करने का भी अवसर दिया है।

हेय और उपादेय का मापदण्ड

वर्तमान युग ने भारतीय नारी को संक्रान्ति रेखा पर खड़ा कर दिया है, एक ओर उसके सामने सीता, सावित्री, आदि के शील व सेवा के आदर्श हैं, एक ओर उसके सामने अपने समानाधिकार के उपयोग का प्रश्न है। दूसरे शब्दों में एक ओर संस्कृति का प्रश्न है तथा एक ओर आधुनिक प्रगति का प्रश्न है। वर्तमान में संस्कृति विकृति मिश्रित हो रही है। उसके नाम पर नाना अन्धविश्वास, नाना रूढ़ियाँ चल रही हैं। नारी को अपनी हंस मनीषा से संस्कृति और विकृति का पृथक्करण करना होगा। प्रगति भी आज अन्धानुकरण से पीड़ित है। उसे भी अपनी स्वस्थ दशा में लाना होगा। इस प्रकार प्राचीन व अर्वाचीन की समन्वित रूप-रेखा पर भारतीय नारी का नया दर्शन खड़ा होगा।

भारतीय नारी को अपनी बद्धमूल धारणा का विसर्जन कर देना होगा कि प्राचीन है, वही श्रेष्ठ है। जो पूर्वपुरुषों ने कहा है, वही श्रेष्ठ है। प्राचीन में भी श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ दोनों रहे हैं। राम था, उसी युग में रावण था। सीता थी, उसी युग में शूर्पणखा थी। कृष्ण था, उसी युग में कंस और युधिष्ठिर था, उसी युग में दुर्योधन था। पूर्वपुरुषों ने जो कहा, अपनी समझ से अपने देश काल में कहा। आज नारी को अपनी समझ से अपने देश-काल में सोचना है। बुद्ध ने अपने शिष्यों से कहा—“भिक्षुओ! तुम इसलिए किसी बात को स्वीकार न करो, कि वह तथागत (बुद्ध) की कही हुई है। तुम वही बात स्वीकार करो, जिसके लिए तुम्हारा विवेक तुम्हें प्रेरित करता है।” अस्तु, हेय या उपादेय का मानदण्ड नवीनता या प्राचीनता नहीं, मनुष्य का प्रबुद्ध विवेक ही उसका अन्तिम मानदण्ड है। भारतीय नारी

पूर्व पुरुषों की बात को विवेकपूर्वक स्वीकार करे, तो वह नवीन युग के स्रष्टाओं का भी आँख मूंदकर अनुसरण न करे, भले ही वे डार्विन, मार्क्स या फ्रायड हों।

विभिन्न कार्य-क्षेत्र

क्रमागत भारतीय समाज-व्यवस्था का स्वरूप रहा है—नारी घर को सम्भाले, भोजन-पानी की व्यवस्था करे, बच्चों की सार-सम्भाल करे। शेष सब पुरुष करें। इस व्यवस्था में स्त्री के पल्ले बहुत ही सीमित दायित्व रहता है। सीमित दायित्व में नारी का विकास भी सीमित ही रह जाता है। वर्तमान युग का मानदण्ड बन गया है, स्त्री पुरुष के सभी प्रकार के दायित्व में हाथ बटाएँ और उसे बल दे। शिक्षा, साहित्य, राजनीति, वाणिज्य और सार्वजनिक क्षेत्र में पुरुष जितना ही दायित्व वह अपना समझे। प्रश्न आता है इससे गृह-व्यवस्था भंग हो जायेगी। पारिवारिक जीवन अस्त-व्यस्त हो जायेगा। यह प्रश्न यथार्थ नहीं है। गृहकार्य का सामंजस्य बिठाकर भी महिला अन्य किसी भी क्षेत्र में सुगमता से कार्य कर सकती है। एक वकील अपनी वकालत भी चलाता है, सार्वजनिक क्षेत्र व राजनीति में भी सुगमता से कार्य करता है। देखा जाता है, वह अपने दोनों क्षेत्रों में शीर्षस्थ स्थिति तक पहुँचता है। अन्य अनेक लोग बड़े-बड़े विभिन्न दायित्व एक साथ संभालते हैं। नारी के लिये ही ऐसा क्यों सोचा जाये कि वह अन्य क्षेत्रों में आई, तो घर चौपट हो जायेगा।

आर्थिक दायित्व

भारत में ऐसी परम्परा भी व्यापक रूप से रही है कि परिवार में एक कमाये और दस व्यक्ति बैठे-बैठे खायें। धनिकों, उद्योगपतियों एवं बड़ी नौकरीवालों के ऐसा निभता भी रहा है। युग समाजीकरण की ओर बढ़ रहा है। कानून और व्यवस्थाएँ निम्न वर्ग के पक्ष में जा रही हैं। अधिक संग्रह विभिन्न प्रकार से रोके जा रहे हैं। इस स्थिति में चन्द उद्योगपतियों को छोड़कर कोटि-कोटि मध्यम वर्गीय लोगों के लिये तो यह असम्भव ही होता जा रहा है कि एक कमाये और परिवार के अन्य दस बैठे-बैठे खायें। अस्तु, नारी के लिये चिन्तनीय विषय इतना ही है कि किस प्रकार की आजीविका या व्यवसाय को अपनाये, जिससे उसके गृह-दायित्व एवं आचरण पर कोई आँच न आये।

कला और सामाजिक श्लाघ्यता

अभिनेता और अभिनेत्री, ये दो शब्द समाज में बहुचर्चित हो चले हैं। युवक और युवतियाँ इस ओर कटिबद्ध हो रहे हैं। माता-पिता के चाहे-अनचाहे वे इस ओर बढ़े ही जा रहे हैं। भारत में जब चलचित्रों का निर्माण शुरू हुआ तब निर्माताओं को अभिनय के लिये युवतियाँ सुगमता से मिलती ही नहीं थीं। समाज में इस कार्य को अश्रेष्ठ माना जाता था, अतः लड़कियाँ इस ओर आने का साहस ही नहीं करतीं। अब अभिनेत्रियों की बाढ़-सी आ गई है। इस प्रकार के व्यवसाय देश में पहले भी किसी रूप में चलते थे। पर समाज में वे उच्चता की भावना से नहीं देखे जाते थे। अब इस पहलू को चारों ओर से उभार मिल रहा है। प्रशासन उन्हें सम्मानित करता है। समाज कुछ-कुछ ऊँची निगाहों से देखने लगा है। साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं ने भी उनके लिये स्वतन्त्र पृष्ठ खोल दिये हैं। व्यावसायिक लोगों के विज्ञापन का निरुपम प्रतीक अभिनेत्री ही बन गई है। अभिनेता और अभिनेत्रियों के साक्षात् मात्र के लिये लाखों लोग एकत्रित हो जाते हैं। समाज में सभी प्रकार के व्यवसाय चलते हैं। श्रेष्ठता की छाप उस पर जब लगाई जाये, तब यह अवश्य सोचना चाहिये, यह हमारी संस्कृति के अनुरूप है या नहीं। किसी युवती का किसी पुरुष के साथ सार्वजनिक रूप से अभिनय करना श्लाघ्य नहीं है। समाज में उसे प्रतिष्ठित करने का तात्पर्य है, समाज की युवतियाँ सामूहिक रूप से इस ओर प्रवृत्त हों। यह

संस्कृति के लिये एक बड़ा धक्का होता है। ऐसे व्यवसायों में कला का सम्बन्ध अवश्य है, पर उन कलाओं का समाज में सीमित महत्व ही रहना चाहिए, जो जीवन को श्रेय की ओर प्रेरित करने वाली न हों। कलाकारों के लिये भी यह चिन्तन का विषय है, उनकी कला का समाज के लिये रचनात्मक उपयोग क्या हो? मनोविनोद तक ही सीमित रहने वाली कलाएँ असामान्य नहीं होतीं।

सौन्दर्य प्रतियोगिता

सौन्दर्य प्रतियोगिता का ढर्रा भी देश में बल पकड़ रहा है। प्रतिवर्ष एक भारतसुन्दरी व एक विश्वसुन्दरी सामने आती है। सौन्दर्य प्रतियोगिता एक पश्चिमी प्रवाह है। उसका सृजनात्मक पक्ष कोई है ही नहीं। फिर भी युवतियों के लिये यह एक गड्ढी-प्रवाह बन रहा है। उसका कारण है, पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा इसको महत्व दिया जाना। भारतसुन्दरी या विश्वसुन्दरी चुने जाते ही एक अनजाना व्यक्तित्व पत्र-पत्रिकाओं के मुखपृष्ठ पर आ जाता है। एक “नोबल प्राइज” पाने वाले को जितनी ख्याति नहीं मिलती उतनी एक विश्वसुन्दरी को मिल जाती है। कार्य उपयोगिता और निरूपयोगिता के अंकन में कोई अन्तर न हो, तो समझना चाहिये, समाज का बौद्धिक स्तर बहुत न्यून है। यही स्थिति सौन्दर्य प्रतियोगिता के सम्बन्ध में समाज में बन रही है।

सौन्दर्य प्रतियोगिता के निर्णायक पुरुष होते हैं, उनके निर्णय का प्रकार भारतीय सभ्यता से बहुत ही परे का होता है। ‘भारतसुन्दरी’ और ‘विश्वसुन्दरी’ ये नाम भी यथार्थ नहीं हैं। प्रतियोगिता में भाग लेने वाली कुछ एक महिलाओं में जो सर्वाधिक सुन्दर है, उसे भारत में या विश्व में सबसे सुन्दर ख्यात कर देना कैसे यथार्थ हो सकता है? अस्तु, सौन्दर्य प्रतियोगिता का बढ़ता हुआ प्रवाह पश्चिम के अन्धानुकरण का एक ज्वलन्त उदाहरण माना जा सकता है।

पर्दा-प्रथा

इसी प्रकार भारत में प्रचलित पर्दा-प्रथा संस्कृति के नाम पर होने वाली विकृति की उपासना का ज्वलन्त उदाहरण है। युग के पैने प्रहारों ने पर्दा-प्रथा की जड़ें खोखली कर दी हैं, फिर भी अन्ध-विश्वासों का यह जर्जर वृक्ष धड़ाम से गिर नहीं गया है। कहा जाता है, यह प्रथा यवन-युग की देन है। हो सकता है, यवन-युग में इसने विशेष बल पकड़ा हो, पर इसके विरल पद-चिह्न तो बहुत प्राचीनकाल में भी देखे जाते हैं। महाकवि कालिदास ने अपने विख्यात नाटक ‘अभिज्ञान शाकुन्तलम्’ में अयोध्या-नरेश दुष्यन्त की पत्नी व भरत की माता शकुन्तला के अवगुंठित होने का वर्णन किया है। महाकवि माघ ने अपने ‘शिशुपाल वध’ काव्य में श्रीकृष्ण की रानियों के अवगुंठन बताया है। बुद्ध की पत्नी यशोदा ने जो घूँघट न रखने का आग्रह लिया, उससे घूँघट प्रथा की प्राचीनता ही सिद्ध होती है। प्रश्न प्राचीनता का नहीं, उपयोगिता का है। प्राचीनकाल में वह चाहे सदा से ही क्यों न रही हो, आज हमें उसकी कोई उपयोगिता नहीं लग रही है, तो वह त्याज्य ही है। उसे भारतीय संस्कृति या भारतीय सभ्यता का अंग मानकर पुष्ट करते रहना नितान्त हास्यास्पद ही है।

आकर्षक वेशभूषा

नारी समाज में सौन्दर्य प्रसाधनों का उपयोग पहले भी था, प्रकारान्तर से आज भी है। बहु-मूल्य और जगमगाते आभूषणों से, रंग-रंगीली साड़ियों से उसकी मंजूषाएँ पहले भी भरी मिलती थीं, आज भी भरी मिलती हैं। पहले स्त्रियों की तरह पुरुष भी चाकचिक्य के समीप था। वह भी रंग-रंगीले वस्त्रों व बहुमूल्य और विविध आभूषणों में सजा रहता था। आधुनिक सभ्यता ने उसको बदल दिया।

आभूषण तो उसके शरीर से हट ही गये, वेशभूषा भी एक मान्य स्तर पर आने लगी है। आज बाजार जितना साड़ियों पर चलता है, उतना धोती और पैटों पर नहीं चलता। घर में भी देखें, तो पुरुष और स्त्री के व्यक्तिगत व्यय और संग्रह में बहुत अन्तर मिलेगा। नारी को इस दिशा में पुरुष की तरह ही सुधार लाने की अपेक्षा है। भारतीय संस्कृति के अनुसार नारी के लिये शील ही शृंगार है, इस आदर्श को वह जीवन में चरितार्थ क्यों नहीं करती? स्त्री और पुरुष के बीच एक-दूसरे का आकर्षण समान है, तो साज-सज्जा का अनहोना भार केवल नारी ही अपने सिर क्यों ले लेती है? उसे भी अपनी वेश-भूषा के स्तर को पुरुष की तरह संयत और सादा बनाना चाहिये।

आधुनिक वातावरण में नारी पहले से भी अधिक कृत्रिम होती जा रही है। लिपिस्टिक, पाउडर, विचित्र केशविन्यास कृत्रिमता के सजीव उदाहरण हैं। अनावरण की मानों प्रतियोगिता चल पड़ी है। अभयता के नाम पर नग्नता बढ़ रही है। आवरण और अनावरण की जैसे कोई रेखा ही नहीं रही है। एक सभ्य पुरुष धोती में या कुर्ते में, कोट, बुशशर्ट और पैट में आवृत रहता है। सिर पर भी कुछ लोग टोपी या पगड़ी रख लेते हैं। स्त्रियों का आवरण मुख से गया, सिर से गया और अब पेट व पीठ से भी जा रहा है।

यह निम्नता की प्रगति अश्लाघ्य है। नारी को स्वयं प्रबुद्ध होकर अपनी वेश-भूषा की संयत रेखाएँ स्थिर करनी चाहिये। उसके पक्ष में जनमत जागृत करना चाहिये ताकि सीमातीत अनावरण सामाजिक मान्यता न पा सके। अरतु, कुल मिलाकर यही कहा जा सकता है, नारी प्रगति पाये, पर-सत्य, संयम और सदाचार की पृष्ठभूमि पर।



नारी का मोह पाश

पासेण पंजरेण य बज्जति चउपयाय पक्खीइ ।

इय जुवइ पंजरेण य बद्धा पुरिसा किलिस्संति ॥

—इन्द्रिय पराजयशतक ५२

जैसे रस्सी से बँधे हुए चतुष्पाद—गाय, भैंस आदि एवं पिंजरे में बन्द पक्षी क्लेश को पाते हैं उसी प्रकार स्त्री रूपी पिंजरे में फँसा हुआ व्यक्ति भी क्लेश को पाता है।



सज्जन-वाणी :—

१. धर्म हमें सदाचरण सिखाता है और दुराचरण पर अंकुश लगाता है ?
२. धर्म का चिन्तन चरित्र और व्यवहार में उत्कृष्टता और नैतिकता लाता है।
३. शालीनता, कारुण्य भावना, साम्य भावना और आदर्शवादिता धार्मिक शिक्षा की ही देन हैं।
४. धर्म नीति की निष्ठा और मर्यादाओं में रहना सिखाता है जिससे मानव जीवन सुखी बनता है।